

श्रीमद्भागवतम् स्कन्ध 5 अध्याय 5: ऋषभदेव का उपदेश

14 September 2026



पाठ से पहले एक निवेदन

श्रीमद्भागवत महापुराण के ये अध्यायवार सार गीता प्रेस भागवत को मुख्य आधार मानकर तैयार किए गए हैं। ये भागवत के अध्ययन में सहायक हैं, मूल ग्रंथ का स्थान नहीं ले सकते।

अध्ययन का मुख्य और अनुशंसित मार्ग गीता प्रेस की भागवत पुस्तक से सीधा पाठ है। यात्रा में, घर से दूर, या जब पुस्तक पास न हो, तब निरंतर अध्ययन, पुनरावृत्ति और समझ के लिए इन सारों का सहारा लिया जा सकता है।



आत्मज्ञान के तेज से देदीप्यमान, भगवान् ऋषभदेव अपने सौ पुत्रों की ओर मुड़कर सर्वोच्च शिक्षा प्रकट करते हैं — कि यह मानव-जीवन क्षणिक भोग के लिए नहीं, अपितु उस तप और भक्ति के लिए है जो शाश्वत आनन्द का द्वार खोल देते हैं।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

श्रीमद्भागवतम् विज्जम में पुनः आपका स्वागत है — श्रीमद्भागवत महापुराण की पावन कथाओं और शिक्षाओं की एक भक्तिपूर्ण यात्रा। पिछले अध्याय में हमने भगवान् ऋषभदेव की महिमा का दर्शन किया — स्वयं परम भगवान्, राजा नाभि के पुत्र-रूप में जन्मे, पूर्ण धर्म से पृथ्वी पर राज्य करते हुए, और ब्रह्मावर्त में ऋषियों के समक्ष अपने सौ पुत्रों को एकत्र करते हुए। पंचम स्कन्ध का यह पाँचवाँ अध्याय हमें वे ही वचन देता

है जो उन्होंने वहाँ कहे। यह समस्त भागवत के सर्वाधिक अमूल्य उपदेशों में से एक है: एक पिता, जो स्वयं भगवान् भी हैं, अपने बच्चों को — और उनके माध्यम से समस्त संसार को — यह सिखाते हुए कि मानव-देह वास्तव में किसके लिए है, आत्मा किस प्रकार बँधती है, और किस प्रकार मुक्त हो सकती है। तब, वचन से शिक्षा देकर, ऋषभदेव कर्म से भी शिक्षा देते हैं: वे अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को सिंहासन पर अभिषिक्त करते हैं और स्वयं एक विरक्त अवधूत का जीवन धारण कर लेते हैं, मार्ग दिखाने के लिए सब कुछ त्याग देते हैं।

अध्याय-परिचय

- शास्त्र: श्रीमद्भागवत महापुराण
- स्कन्ध: 5 (पंचम स्कन्ध)
- अध्याय: 5 (पंचम अध्याय)
- अध्याय-शीर्षक: भगवान् ऋषभदेव का अपने पुत्रों को उपदेश
- प्रमुख वक्ता: भगवान् ऋषभदेव, अपने पुत्रों को उपदेश देते हुए; कथा-वाचन श्रीशुकदेव गोस्वामी (श्रीशुक) द्वारा, राजा परीक्षित को सुनाते हुए
- प्रमुख श्रोता: भरत आदि भगवान् ऋषभदेव के सौ पुत्र, उनकी प्रजा के सुनते हुए — और यह समस्त संवाद सूत गोस्वामी द्वारा नैमिषारण्य में एकत्रित ऋषियों की सभा को पुनः सुनाया जाता है
- मुख्य स्थल: ब्रह्मावर्त, श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियों की एक सभा में; और तत्पश्चात् पृथ्वी के नगर, ग्राम एवं वन, जिनमें वह विरक्त भगवान् विचरण करते हैं
- केन्द्रीय विषय: मानव-जीवन के वास्तविक प्रयोजन, कर्म और आसक्ति द्वारा आत्मा के बन्धन, मुक्ति की ओर ले जाने वाले भक्ति एवं संयम के मार्ग, ब्राह्मणों और भक्तों की महिमा, और अवधूत-रूप में उनके स्वयं के संसार-त्याग पर ऋषभदेव की शिक्षा
- प्रमुख श्लोक-सीमा: स्कन्ध 5, अध्याय 5, श्लोक 1–35
- मूल संस्करण: गीता प्रेस श्रीमद्भागवत महापुराण

पिछले अध्याय से

पंचम स्कन्ध का चतुर्थ अध्याय भगवान् ऋषभदेव की महिमा को अनावृत करता है — किस प्रकार वे भगवत्ता के लक्षणों के साथ जन्मे, “सर्वश्रेष्ठ” नाम पाया, एक मुस्कान से इन्द्र के दर्प को शमित किया, सौ श्रेष्ठ पुत्रों को जन्म दिया, और परम भगवान् होते हुए भी एक मर्त्य के समान शासन कर संसार को अपने ही उदाहरण से शिक्षा दी। वह अध्याय इस क्षण पर समाप्त हुआ जब वे अपने राज्य का भ्रमण करते हुए ब्रह्मावर्त आए, और वहाँ, श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियों की सभा में और अपनी प्रजा के सुनते हुए, अपने पुत्रों को शिक्षा देने के लिए उनकी ओर मुड़े। यह अध्याय उसके पश्चात् दिए गए उस महान् उपदेश को अंकित करता है।

यह देह इन्द्रिय-भोग के लिए नहीं है

भगवान् ऋषभदेव ने एक ऐसे सत्य से आरम्भ किया जो जीवन के साधारण लक्ष्य को ही उलट देता है। उन्होंने अपने प्रिय पुत्रों से कहा, यह मानव-देह उन इन्द्रिय-सुखों की खोज में नष्ट करने के लिए नहीं है — जो दुःख के मूल हैं, और जिन्हें शूकर, कुत्ते तथा अन्य नीच प्राणी भी भोगते हैं। अपितु, मानव-जन्म का यह दुर्लभ उपहार उन उदात्त तपों के लिए योग्य है, जिनसे मन शुद्ध होता है; और मन की शुद्धि से ब्रह्म में लीनता का अनन्त आनन्द प्राप्त होता है।

नायं देहो देहभाजां नृलोके
कष्टान् कामानर्हते विद्भुजां ये ।
तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं
शुद्धयेद्यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम् ॥ १ ॥

*nāyaṁ deho deha-bhājāṁ nṛloke kaṣṭāṇ kāmān arhate viḍ-bhujāṁ ye tapo divyaṁ putrakā yena
sattvaṁ śuddhyed yasmād brahma-saukhyam tv anantam*

अर्थ: इस मानव-समाज में, देह-धारी को उन्हीं भोगों के पीछे परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं जिन्हें विष्टा-भक्षी प्राणी भी सहज ही पा लेते हैं; यह देह तो, हे पुत्रो, उस पवित्र तप के लिए है जिससे अन्तःकरण निर्मल होता है और ब्रह्म का अनन्त आनन्द प्राप्त होता है। (स्कन्ध 5, अध्याय 5, श्लोक 1)

उन्होंने कहा, महापुरुषों की सेवा मुक्ति का खुला द्वार है, जबकि विषय-लोलुपों में आसक्ति नरक में खुलने वाला द्वार है।

उन्होंने सिखाया कि सच्चे अर्थ में महान् वे हैं जो समभाव, अत्यन्त शान्त, क्रोध से रहित, कृपालु और करुणामय हैं — और सर्वोपरि वे जो उन्हें अर्पित प्रेम को ही मानव-जीवन का एकमात्र लक्ष्य स्वीकार करते हैं। ऐसा जीव देह के पोषण के अन्तहीन श्रम में, अथवा केवल गृहस्थ के सुखों में आनन्द नहीं लेता, और देह के लिए केवल उतना ही रखता है जितना उसका निर्वाह अपेक्षित करता है। जो इसे भूल जाता है, अपने वास्तविक हित से विमुख होकर, इन्द्रियों की चंचल क्रीड़ा को अपना स्वरूप मान बैठता है, और इस प्रकार विषय-भोग के आस-पास बने एक घर में शरण लेकर वहाँ नाना प्रकार के ताप भोगता है।

यदा न पश्यत्ययथा गुणेहां
स्वार्थे प्रमत्तः सहसा विपश्चित् ।
गतस्मृतिर्विन्दति तत्र तापा-
नासाद्य मैथुन्यमगारमज्ञः ॥ ७ ॥

*yadā na paśyaty ayathā guṇehāṁ svārthe pramattaḥ sahasā vipaścit gata-smṛtir vindati tatra
tāpān āsādy maithunyam agāram ajñāḥ*

अर्थ: जब तक कोई व्यक्ति, चाहे कितना ही विद्वान् क्यों न हो, इन्द्रियों की क्रिया को असत् नहीं देख पाता और अपने वास्तविक हित से प्रमादी रहता है, तब तक वह अपने स्वरूप को भूल जाता है; और वह मूढ़ जीव विषय-भोग-केन्द्रित गृह में शरण लेकर वहाँ ताप भोगता है। (स्कन्ध 5, अध्याय 5, श्लोक 7)



ब्रह्मावर्त की सभा में, भगवान् ऋषभदेव अपने पुत्रों को सिखाते हैं कि मानव-देह क्षणिक भोग के लिए नहीं, अपितु हृदय को शुद्ध करने वाले तप के लिए है (श्लोक 7)।

हृदय की ग्रन्थि

तब ऋषभदेव ने बताया कि आत्मा किस प्रकार बन्धन में पड़ती है। उन्होंने कहा, भ्रान्त जीव पाप तभी करता है जब वह इन्द्रियों को तृप्त करने का प्रयत्न करता है; और उस प्रयत्न से उत्पन्न कर्म इसी देह को जन्म देते हैं, जो यद्यपि अन्ततः असत् है, फिर भी जीव के लिए दुःख का स्रोत बन जाती है। जब तक जीव आत्मा के सत्य का अनुसन्धान नहीं करता, तब तक उसका अपना ही वास्तविक स्वरूप अविद्या से ढका रहता है; जब तक वह स्वार्थपूर्ण कर्म करता रहता है, तब तक मन चंचल रहता है; और जब तक भगवान् वासुदेव के प्रति प्रेम नहीं होता, तब तक जीव देह के साथ अपने मिथ्या तादात्म्य को नहीं त्याग पाता।

उन्होंने सिखाया कि स्त्री और पुरुष का पति-पत्नी के रूप में मिलन विद्वान् जन एक और ग्रन्थि कहते हैं जो हृदय को हृदय से बाँध देती है — देह-तादात्म्य की उस सूक्ष्म ग्रन्थि के अतिरिक्त जो प्रत्येक के भीतर पहले से ही विद्यमान है। इसी ग्रन्थि के कारण व्यक्ति घर और खेत, सन्तान, कुटुम्बी और धन को अपना स्वरूप अथवा अपना मानने लगता है। किन्तु जब पूर्व-कर्मों से बाँधी मन की यह कठोर ग्रन्थि अन्ततः शिथिल हो जाती है, तब आत्मा इस बन्धन से विमुक्त हो जाती है, अहंकार को त्याग देती है, और समस्त बन्धनों से मुक्त होकर परम पद को प्राप्त होती है।

वह मार्ग जो मुक्ति की ओर ले जाता है

तब यह ग्रन्थि किस प्रकार खोली जाए? यहाँ ऋषभदेव ने सम्पूर्ण मार्ग एक ही व्यापक उपदेश में प्रस्तुत किया। उनकी, जो समस्त के शुद्ध आत्मा और गुरु हैं, आराधना करके और केवल उन्हीं का आश्रय लेकर; भोग की तृष्णा से मुक्त होकर और शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों को धैर्य से सहकर; यह पहचान कर कि जीव सर्वत्र संकट से घिरा है; सत्य के गम्भीर अनुसन्धान से, तप से, और स्वार्थपूर्ण कर्मों को त्यागकर; उनके लिए किए गए कर्मों और उनकी लीलाओं के नित्य श्रवण से; उनके भक्तों की संगति और उनके गुणगान से; समभाव, शान्ति और वैर-रहितता से; आत्म-

विषयक शास्त्रों के अध्ययन से, एकान्तवास से, और प्राण, इन्द्रिय एवं मन के संयम से; सन्तों में श्रद्धा से, ब्रह्मचर्य और सतर्कता से, जिह्वा पर संयम से, और उनकी सर्वत्र उपस्थिति के दर्शन से आलोकित विवेक से — इन सब साधनों से, धैर्य और विवेक से सम्पन्न होकर, बुद्धिमान् व्यक्ति को अहंकार-रूपी उस आवरण को चीर डालना चाहिए। तब, सदैव सतर्क रहते हुए, उसे हृदय में स्थित अहंकार की उस ग्रन्थि को — जो समस्त कर्म-वासनाओं का कोष है — पूर्णतया शिथिल कर देना चाहिए; और अन्त में इस प्रयत्न को भी त्याग देना चाहिए।

हंसे गुरौ मयि भक्त्यानुवृत्त्या

वितृष्णया द्वन्द्वतितिक्षया च ।

सर्वत्र जन्तोर्व्यसनावगत्या

जिज्ञासया तपसेहानिवृत्त्या ॥ १० ॥

*haṁse gurau mayi bhaktyānuvṛtyā vitṛṣṇayā dvandva-titikṣayā ca sarvatra jantor
vyasanāvagatyā jijñāsaya tapasehā-nivṛtṭyā*

अर्थ: यही मार्ग संक्षेप में है: मुक्त पुरुष को गुरु मानकर और मुझे ही परम शरण मानकर उसका आश्रय लेना; भोग की तृष्णा को त्यागकर सुख-दुःख को समान भाव से सहना; यह देखना कि देहधारी को पग-पग पर संकट घेरे रहता है; सत्य की गम्भीर खोज करना, तप करना, और अपनी इच्छाओं की पूर्ति का प्रयत्न त्याग देना; प्रत्येक कर्म मुझे अर्पित करना और नित्य मेरी लीलाओं का श्रवण करना; भक्तों की संगति करना और मेरा गुणगान करना; वैर-रहित, समभाव और शान्त रहना; देह और गृह से जुड़े मिथ्या 'मैं' और 'मेरा' के भाव को त्यागना; आत्म-विषयक शास्त्रों का अध्ययन करना, एकान्त में रहना, और प्राण, इन्द्रिय एवं मन को वश में करना; सत्-शास्त्रों में श्रद्धा रखना, आजीवन ब्रह्मचर्य पालना, सतर्क रहना, और वाणी पर संयम रखना; और सर्वत्र मुझे उपस्थित देखते हुए ज्ञान को अनुभव से युक्त करना। (स्कन्ध 5, अध्याय 5, श्लोक 10-13)

ऋषभदेव ने कहा, जो राजा, पिता अथवा गुरु उनके धाम को पहुँचने की आकांक्षा रखता है, उसे अपनी प्रजा, पुत्रों अथवा शिष्यों को इसी प्रकार शिक्षा देनी चाहिए, और उन्हें कभी स्वार्थपूर्ण, सकाम कर्मों की ओर नहीं धकेलना चाहिए — क्योंकि किसी सहजीव को उस अन्धकार में और गहरे धकेलना उसे जन्म-मृत्यु के अगाध कूप में गिरा देना है। जो मनुष्य इन्द्रिय-विषयों की लालसा करते हैं, वे अपने ही वास्तविक कल्याण से अन्धे हैं; मोहग्रस्त होकर, वे भोग के तुच्छ कणों के लिए परस्पर वैर में पड़ जाते हैं, उस अन्तहीन दुःख को कभी न देखते हुए जो आगे प्रतीक्षा कर रहा है। लक्ष्य को जानने वाला विवेकी और करुणामय व्यक्ति उन्हें उस अन्धकार में वापस लौटने के लिए उतना ही नहीं कहेगा जितना वह किसी अन्धे को गलत मार्ग पर और आगे नहीं भेजेगा।

सच्चा संरक्षक आत्मा को मुक्त करता है

इसी से इस उपदेश का एक सर्वाधिक मर्मभेदी श्लोक निकला। ऋषभदेव ने घोषित किया कि किसी संरक्षक का मानदण्ड यह है कि वह अपने आश्रितों को मृत्यु के चक्र से मुक्त कर सकता है या नहीं।

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात् ।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्या-
न्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् ॥ १८ ॥

*gurur na sa syāt sva-jano na sa syāt pitā na sa syāj janani na sā syāt daivam na tat syān na patis
ca sa syān na mocayed yaḥ samupeta-mṛtyum*

अर्थ: वह न सच्चा गुरु है, न सच्चा स्वजन, न सच्चा पिता, न सच्ची माता, न सच्चा देवता, और न सच्चा पति — जो अपने आश्रितों को आते हुए जन्म-मृत्यु के चक्र से नहीं छुड़ा सकता। (स्कन्ध 5, अध्याय 5, श्लोक 18)



ऋषभदेव सिखाते हैं कि गुरु, माता-पिता अथवा रक्षक का सच्चा मूल्य उस सामर्थ्य में है जिससे वह अपने आश्रितों को बारम्बार मृत्यु के बन्धन से मुक्त कर सके (श्लोक 18)।

मुझे 'ऋषभ' क्यों कहते हैं

तब भगवान् ने अपने अवतरण का रहस्य अनावृत किया। उन्होंने कहा, उनका यह मानव-रूप सरलता से समझा नहीं जा सकता, क्योंकि यह प्रकृति से जन्मा ही नहीं है: शुद्ध सत्त्व ही उनका हृदय है, और वहीं समस्त धर्म निवास करता है, जबकि अधर्म का हर चिह्न बहुत पीछे छोड़ दिया गया है। उन्होंने बताया, यही कारण है कि श्रेष्ठ जन उन्हें ऋषभ — सर्वश्रेष्ठ, सर्वोत्तम — कहते हैं।

इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं
सत्त्वं हि मे हृदयं यत्र धर्मः ।
पृष्ठे कृतो मे यदधर्म आराद्
अतो हि मामृषभं प्राहुरार्याः ॥ १९ ॥

*idaṁ śarīraṁ mama durvibhāvyaṁ sattvaṁ hi me hṛdayaṁ yatra dharmah prṣṭhe kṛto me yad
adharma ārād ato hi mām ṛṣabhaṁ prāhur āryāḥ*

अर्थ: मेरा यह शरीर समझ पाना कठिन है; शुद्ध सत्त्व ही मेरा हृदय है, जहाँ समस्त धर्म निवास करता है, और अधर्म को मैंने बहुत दूर पीछे छोड़ दिया है। इसी कारण श्रेष्ठ जन मुझे ऋषभ — सर्वश्रेष्ठ — कहते हैं। (स्कन्ध 5, अध्याय 5, श्लोक 19)

क्योंकि उनके पुत्र उसी शुद्ध सत्त्वमय हृदय से उत्पन्न हुए थे, ऋषभदेव ने उन्हें ईर्ष्या-रहित होकर अपने श्रेष्ठ भ्राता भरत की सेवा करने का उपदेश दिया; उन्होंने कहा, उसकी सेवा करना उन्हीं की सेवा करने और समस्त प्रजा का पालन करने के तुल्य होगा। तब उन्होंने उनके समक्ष सृष्ट प्राणियों की महान् सीढ़ी रखी — वनस्पतियों से चर प्राणियों तक, पशुओं से मनुष्यों तक, और ऊपर प्रमथों, गन्धर्वों, सिद्धों और देवताओं के अनुचरों से होते हुए, असुरों तक, और उनसे भी ऊँचे इन्द्र आदि देवताओं तक, और उनसे परे दक्ष आदि ब्रह्मा के मानस-पुत्रों तक, और उनसे ऊपर भगवान् शिव, और फिर स्वयं ब्रह्मा। उन्होंने कहा, ब्रह्मा से भी ऊँचे स्वयं परम भगवान् हैं — फिर भी शुद्ध और भक्त ब्राह्मणों को वे स्वयं अपने लिए भी पूज्य मानते हैं।

निष्काम भक्त की महिमा

तब ऋषभदेव ने ब्राह्मणों और अपने भक्तों को अद्भुत स्तुति से सम्मानित किया। उन्होंने कहा, ब्राह्मण के ही द्वारा उनका अपना नित्य शरीर, वेदों के रूप में, पृथ्वी पर सुरक्षित रहता है, और उसी में सत्त्व, आत्म-संयम, सत्यनिष्ठा, करुणा, तप, सहनशीलता और ज्ञान पाए जाते हैं। और अपने भक्तों के विषय में उन्होंने एक ऐसा सत्य कहा जो सांसारिक मूल्यों को उलट देता है: जो उनकी भक्ति से सम्पन्न हैं, वे यद्यपि इस संसार में कुछ भी नहीं रखते, फिर भी उन्हें कुछ भी माँगना शेष नहीं रहता — स्वयं उनसे भी नहीं, जो अनन्त भगवान् और स्वर्ग एवं मोक्ष दोनों के दाता हैं।

मत्तोऽप्यनन्तात्परतः परस्मात्
स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किञ्चित् ।
येषां किमु स्यादितरेण तेषा-
मकिञ्चनानां मयि भक्तिभाजाम् ॥ २५ ॥

*matto 'py anantāt parataḥ parasmāt svargāpavargādhīpater na kiñcit yeṣāṁ kim u syād itareṇa
teṣāṁ akiñcanānāṁ mayi bhakti-bhājām*

अर्थ: जो मेरे भक्त हैं, वे यद्यपि कुछ भी नहीं रखते, फिर भी मुझसे भी कुछ नहीं माँगते — जो अनन्त हूँ, श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ, स्वर्ग और मोक्ष दोनों का स्वामी। फिर उन्हें किसी अन्य से क्या माँगना शेष रह सकता है? (स्कन्ध 5, अध्याय 5, श्लोक 25)

समस्त प्राणियों को मेरा धाम जानो

तब भगवान् ने अपने पुत्रों को एक ऐसी शिक्षा दी जो सम्पूर्ण संसार को देखने की उनकी दृष्टि को ही बदल देगी। उन्होंने कहा, शुद्ध और अनसूयापूर्ण हृदय से उन्हें प्रत्येक प्राणी को — चर और अचर दोनों को — पद-पद पर स्वयं भगवान् के अनेक निवास-स्थानों के रूप में सम्मान देना चाहिए। यही, और केवल यही, उनके हाथों से की गई उनकी सच्ची आराधना होगी।

सर्वाणि मद्भिष्यतया भवद्भि-
श्चराणि भूतानि सुता ध्रुवाणि ।
सम्भावितव्यानि पदे पदे वो
विविक्तदृग्भिस्तदु हार्हणं मे ॥ २६ ॥

sarvāṇi mad-dhiṣyatayā bhavadbhiś carāṇi bhūtāni sutā dhruvāṇi sambhāvitavyāni pade pade vo vivikta-dṛgbhis tad u hārhaṇam me

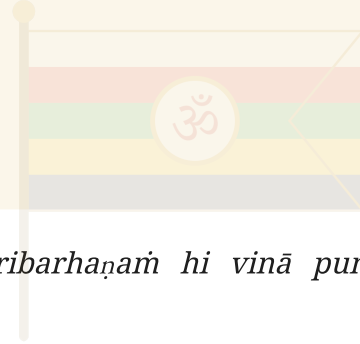
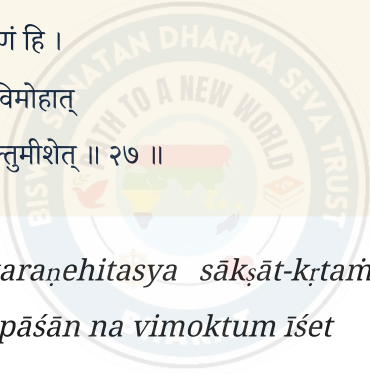
अर्थ: मेरे पुत्रो, स्पष्ट और अभिन्न दृष्टि से तुम्हें समस्त प्राणियों को, चर और अचर, मेरे निवास-स्थान जानना चाहिए और पद-पद पर उनका सम्मान करना चाहिए; यही वस्तुतः मुझे अर्पित सच्ची आराधना है। (स्कन्ध 5, अध्याय 5, श्लोक 26)

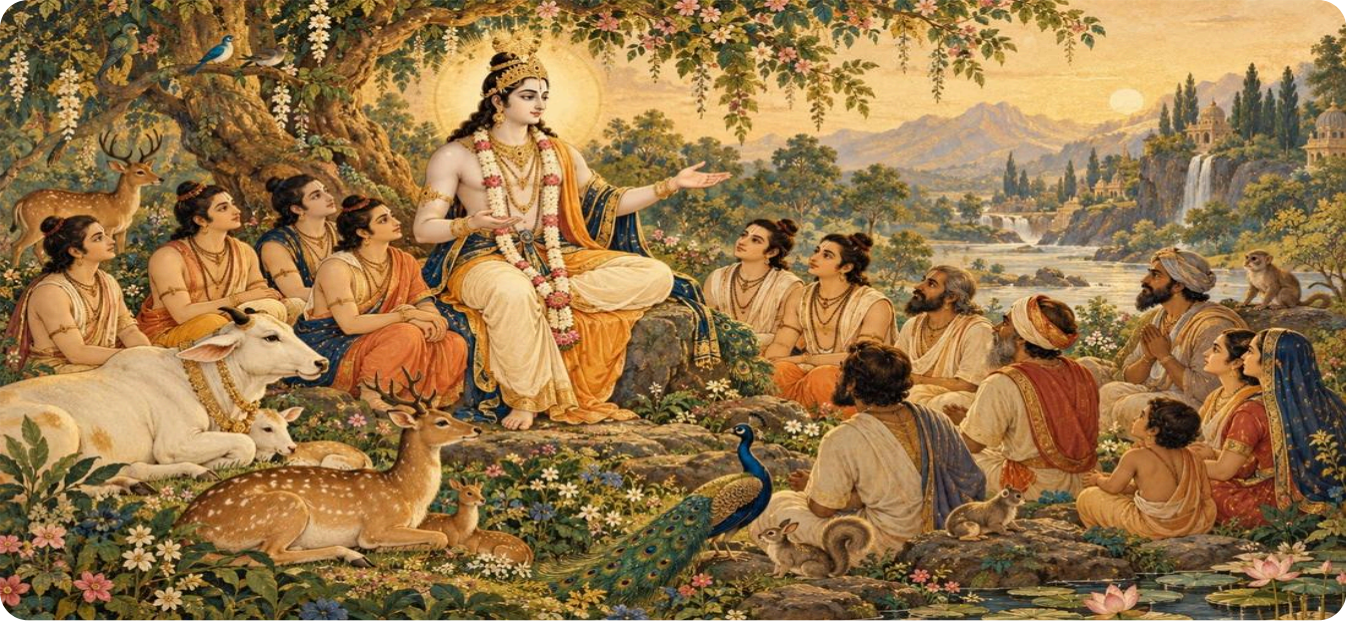
उन्होंने कहा, केवल यही मन, वाणी, दृष्टि और अन्य इन्द्रियों के समस्त प्रयत्न का वास्तविक फल है: उनकी कृपा को प्राप्त करना। उन्हें प्रसन्न किए बिना, कोई भी मृत्यु के उस भयंकर, महामोहकारी पाश से कभी नहीं छूट सकता।

मनोवचोदृक्करणेहितस्य
साक्षात्कृतं मे परिबर्हणं हि ।
विना पुमान् येन महाविमोहात्
कृतान्तपाशान्न विमोक्तुमीशेत् ॥ २७ ॥

mano-vaco-dṛk-karaṇehitasya sākṣāt-kṛtaṁ me paribarhaṇam hi vinā pumān yena mahā-vimohāt kṛtānta-pāśān na vimoktum īšet

अर्थ: मन, वाणी, दृष्टि और इन्द्रियों की समस्त क्रिया का सच्चा फल मेरी प्रसन्नता है; क्योंकि उसके बिना कोई भी मृत्यु के महामोहकारी पाश से मुक्त नहीं हो सकता। (स्कन्ध 5, अध्याय 5, श्लोक 27)





ऋषभदेव अपने पुत्रों को प्रत्येक प्राणी को भगवान् का निवास-स्थान मानकर आदर करने का उपदेश देते हैं — यही उनके द्वारा भगवान् को अर्पित की जा सकने वाली सच्ची आराधना है (श्लोक 26-27)।

भगवान् संसार का त्याग करते हैं

यहाँ श्रीशुकदेव गोस्वामी, जो यह सम्पूर्ण इतिहास सुनाते हैं, एक ऐसा विवरण जोड़ते हैं जो यह प्रकट करता है कि यह उपदेश दिया ही क्यों गया। वे कहते हैं, ऋषभदेव के पुत्र पहले से ही पूर्ण रूप से सुसंस्कृत और ज्ञानवान् थे — उन्हें वस्तुतः किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। भगवान् ने उनसे इसलिए नहीं कहा कि उनमें कोई कमी थी, अपितु एक जीवन्त उदाहरण स्थापित करने के लिए: कि गृहस्थ-जीवन से निवृत्त होने से पूर्व एक पिता को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि उसकी सन्तान परम सत्य में सुदृढ़ता से स्थापित हो चुकी है। और यह शिक्षा और भी आगे तक पहुँचती है, शुकदेव जोड़ते हैं — विशेष रूप से उन संन्यासियों के लिए जो घर-परिवार पीछे छोड़कर भगवान् की खोज में निकलते हैं। दूसरे शब्दों में, यह स्वयं ऋषभदेव उसी मापदण्ड को जीवन में उतारते हैं जो उन्होंने अभी-अभी घोषित किया था: कि कोई भी संरक्षक इस नाम के योग्य नहीं जो अपने आश्रितों को मृत्यु से मुक्त न कर सके। संसार का त्याग करने से पहले, उन्होंने यह सुनिश्चित किया कि उनके अपने पुत्र घर लौटने के मार्ग पर सुरक्षित खड़े हों। (श्लोक 28)

अपने संयमित पुत्रों को इस प्रकार संसार के कल्याण के लिए उपदेश देकर, परम तेजस्वी ऋषभदेव — उनके सर्वश्रेष्ठ मित्र और हितैषी — ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को, जो भगवान् और उनके सेवकों दोनों के महान् भक्त थे, पृथ्वी की रक्षा के लिए सिंहासन पर अभिषिक्त किया। तब, अपने ही व्यक्तित्व में सच्चे संन्यासी के जीवन का — भक्ति, आत्म-साक्षात्कार और इन्द्रिय-सुखों से विरक्ति से युक्त — आदर्श प्रस्तुत करने के लिए, उन्होंने घर में रहते हुए ही, अपनी उस देह के अतिरिक्त, जो उनकी एकमात्र शेष सम्पत्ति थी, सब कुछ त्याग दिया। यज्ञ की अग्नियों को अपने भीतर लीन करके, वे बिखरे केशों के साथ, खुले आकाश को ही अपना एकमात्र वस्त्र बनाकर, उन्मत्त के समान ब्रह्मावर्त से प्रस्थान कर गए।

देह की समस्त सुध खोए हुए व्यक्ति के समान आचरण करते हुए, उन्होंने मौन-व्रत धारण किया और पृथ्वी पर विचरण करने लगे। नगरों और ग्रामों में, खानों और बस्तियों में, उपवनों और छावनियों में, पर्वतों और वनों तथा आश्रमों में, जहाँ भी वे गए, वे मार्गों पर नीच लोगों द्वारा अपमानित हुए — धमकाए गए, पीटे गए, उन पर थूका गया, उन पर पत्थर और धूल फेंकी गई — ठीक वैसे ही जैसे एक जंगली हाथी

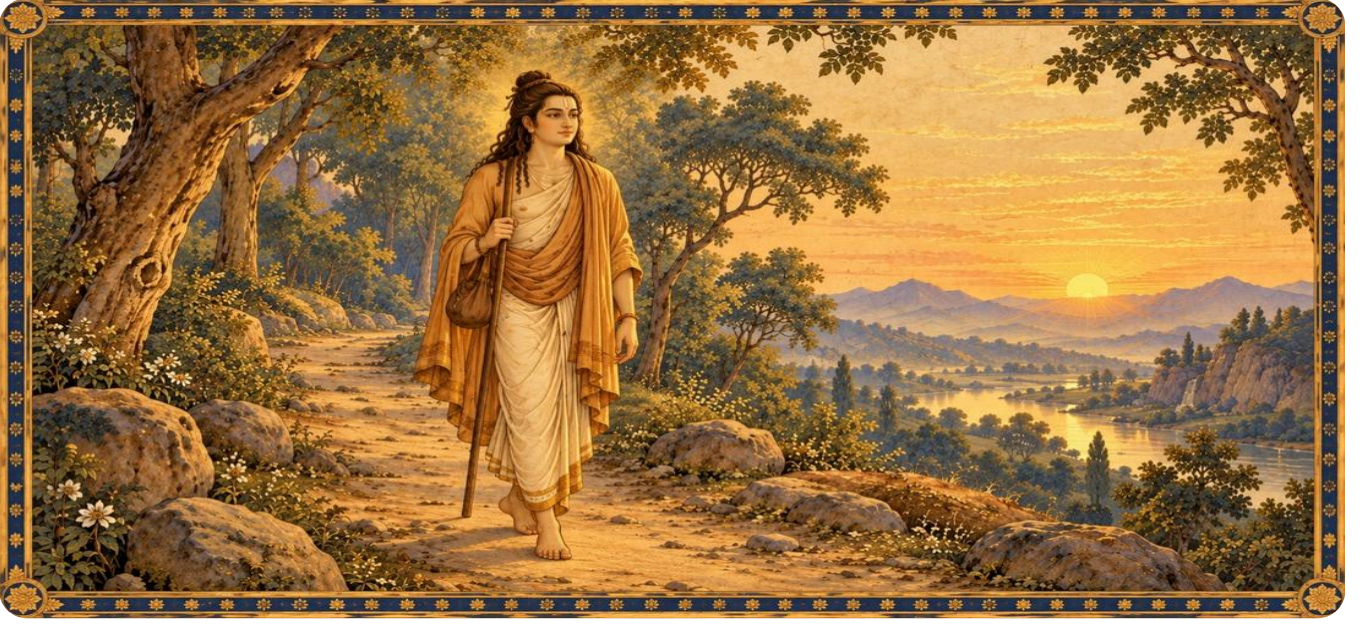
मधुमक्खियों से घिर जाता है। फिर भी उन्होंने इसमें से किसी की भी परवाह नहीं की, क्योंकि उन्होंने इस मायामय देह-रूपी आवास को कभी अपना स्वरूप नहीं माना। अपनी ही महिमा में स्थित, सत् और असत् दोनों के ज्ञाता, वे पृथ्वी पर अकेले विचरण करते रहे, उनका मन अविचलित और शान्त।

उनका रूप इतना सुन्दर था — कोमल अंगों, लम्बी गोल भुजाओं, स्वाभाविक मुस्कान से दीप्त मनोहर मुख और ताजे खिले कमल की पंखुड़ियों-सी आँखों वाला — कि यद्यपि उनकी देह अपरिचरित और मलिन थी और उनके भूरे केश उलझे हुए मुख के चारों ओर बिखरे थे, वे किसी ग्रहग्रस्त के समान प्रतीत होते हुए भी, जहाँ से भी गुजरते, विस्मय जगा देते। अजगर, बैल, हरिण और कौए के आचरण को बारी-बारी से अपनाकर, उन्होंने उन योगियों के लिए आदर्श स्थापित किया जो मार्ग के प्रत्येक विघ्न को पार करने का प्रयत्न करते हैं। और यद्यपि योग की सिद्धियाँ बिना माँगे ही उन्हें प्राप्त हो गई — आकाश में विचरण, मन के वेग से गमन, अन्तर्धान होने, दूसरे के शरीर में प्रवेश, और दूर की वस्तुओं को देखने-सुनने का सामर्थ्य — फिर भी वे भगवान्, जो पहले से ही समस्त प्राणियों के आत्मा वासुदेव के साथ एक थे, ने उनका हृदय से स्वागत नहीं किया।

इति नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिऋषभोऽविरतपरममहानन्दानुभव आत्मनि सर्वेषां भूतानामात्मभूते भगवति वासुदेव
आत्मनोऽव्यवधानानन्तरोदरभावेन सिद्धसमस्तार्थपरिपूर्णा योगैश्वर्याणि वैहायसमनोजवान्तर्धानपरकायप्रवेशदूरग्रहणादीनि यदृच्छयोपगतानि
नाञ्जसा नृप हृदयेनाभ्यनन्दत् ॥ ३५ ॥

*iti nānā-yoga-caryācaraṇo bhagavān kaivalya-patir ṛṣabho 'virata-parama-mahānandānubhava
ātmani sarveṣāṃ bhūtānām ātma-bhūte bhagavati vāsudeva ātmano 'vyavadhānānanta-rodara-
bhāvena siddha-samastārtha-paripūrṇo yogaiśvaryāṇi vaihāyasa-mano-javāntardhāna-
parakāya-praveśa-dūra-grahāṇādīni yadṛcchayopagatāni nāñjasā nṛpa hṛdayenābhyanandat*

अर्थ: इस प्रकार इन विविध योग-चर्याओं का आचरण करते हुए, भगवान् ऋषभ, मुक्ति के अधिपति, सदा परम आनन्द में निमग्न और समस्त अभीष्टों में पूर्ण — जो समस्त प्राणियों के आत्मा भगवान् वासुदेव के साथ, बिना किसी अन्तराल के, एक थे — हे राजन्, उन योग-सिद्धियों का हृदय से स्वागत नहीं किया जो बिना माँगे ही उन्हें प्राप्त हुई थीं। (स्कन्ध 5, अध्याय 5, श्लोक 35)



भरत को सिंहासन पर बैठाकर, भगवान् ऋषभदेव सब कुछ त्याग देते हैं और एक मौन विचरणाशील अवधूत के रूप में ब्रह्मावर्त से प्रस्थान करते हैं, प्रत्येक कष्ट के मध्य अविचलित (श्लोक 28-35)।

इस अध्याय की प्रमुख शिक्षाएँ

मानव-जीवन का भोग से ऊँचा प्रयोजन है। ऋषभदेव के प्रारम्भिक वचन एक स्पष्ट रेखा खींचते हैं: देह उन भोगों के लिए नहीं जो पशु भी बाँटते हैं, अपितु उस तप के लिए है जो हृदय को शुद्ध करता है और शाश्वत आनन्द का मार्ग खोलता है। इसे समझ लेना ही अपने समस्त जीवन को उस वस्तु के चारों ओर पुनर्व्यवस्थित करना है जो वस्तुतः स्थायी है।

आत्मा आसक्ति से बँधती है और प्रेम से मुक्त होती है। हृदय की ग्रन्थियाँ — देह-तादात्म्य तथा कुटुम्ब और सम्पत्ति के बन्धन — स्वार्थपूर्ण कर्म से बँधती हैं और तभी खुलती हैं जब उनका स्थान भगवान् के प्रति प्रेम ले लेता है। ग्रन्थि को अन्ततः भक्ति खोलती है, केवल प्रयत्न नहीं।

सच्चे अधिकार का मापदण्ड मुक्त करने का सामर्थ्य है। भगवान् कहते हैं, जो गुरु, माता-पिता अथवा शासक अपने आश्रितों को मृत्यु से मुक्ति की ओर नहीं ले जा सकता, वह सच्चा संरक्षक है ही नहीं। सच्चा उत्तरदायित्व आध्यात्मिक है; किसी दूसरे को हम जो सर्वोच्च उपहार दे सकते हैं वह भगवान् की ओर एक पग है।

प्रत्येक प्राणी का सम्मान करके भगवान् की आराधना करो। समस्त प्राणियों को भगवान् के निवास-स्थान जानना, और प्रत्येक के साथ शुद्ध, अनसूयापूर्ण हृदय से व्यवहार करना, स्वयं ही सच्ची आराधना है। जीवन के प्रति आदर उसके अन्तर्यामी भगवान् के प्रति आदर है।

सबसे महान् उपदेश एक जीवन है। वचन से शिक्षा देकर, ऋषभदेव ने कर्म से शिक्षा दी — अपने सिंहासन और सुख को त्यागकर, प्रत्येक अपमान को मौन में सहकर, योग की सिद्धियों तक को अस्वीकार करके। उनका समस्त जीवन ही शिक्षा बन जाता है: वैराग्य, विनम्रता और भगवान् में अखण्ड लीनता।

एक भाक्तेपूर्ण चिन्तन

यह एक विस्मयकारी बात है कि स्वयं भगवान्, एक राज्य पर परम शान्ति से शासन करने के पश्चात्, सिंहासन को छोड़कर संसार के मार्गों पर थूके और पत्थर मारे जाने के लिए चल पड़ेंगे — और यह सब बिना किसी रोष की चिनगारी के सहेंगे। ऋषभदेव को कुछ भी त्यागने की आवश्यकता न थी; वे पहले से ही मुक्त थे, पहले से ही आनन्दमय, पहले से ही समस्त के आत्मा के साथ एक। उन्होंने यह हमारे लिए किया, ताकि एक ऐसा पदचिह्न छोड़ जाँ जिसका हम अनुसरण कर सकें। अपने पुत्रों को उनका उपदेश और उनका मौन विचरण एक ही सन्देश के दो अर्ध-भाग हैं: कि मानव-जन्म मापने से परे अमूल्य है, और इसका समस्त प्रयोजन हृदय की ग्रन्थियों को खोलना और भगवान् की ओर मुड़ना है। हमें उनके समान अपने घर त्यागने की आवश्यकता नहीं; हममें से अधिकांश उनके पिता नाभि के समान अपने कर्तव्यों के भीतर ही भगवान् की सेवा करने के लिए बुलाए गए हैं। किन्तु हम सब कम चाहने, अधिक प्रेम करने, और प्रत्येक व्यक्ति में जिससे हम मिलते हैं भगवान् को निवास करते देखने के लिए बुलाए गए हैं। जब उस दृष्टि का थोड़ा-सा भी अंश जड़ पकड़ लेता है, तब वे मार्ग जो कभी शत्रुतापूर्ण प्रतीत होते थे, स्वयं घर का मार्ग बन जाते हैं, और संसार के अपमान उस हृदय को विचलित करने का सामर्थ्य खो देते हैं जो पहले से ही भगवान् में विश्राम कर रहा है।

एक दैनिक भक्ति-साधना

आज, एक ऐसे प्राणी को चुनिए जिसकी आप सामान्यतः उपेक्षा करते हैं अथवा जिससे कठिनाई अनुभव करते हैं — कोई अपरिचित, कोई सहकर्मी, कोई जिसने आपके साथ अन्याय किया हो, अथवा कोई पशु — और सचेत रूप से उस प्राणी को, जैसा ऋषभदेव ने सिखाया, भगवान् का निवास-स्थान जानिए। उसे एक छोटी, सहज करुणा अथवा एक मौन आशीर्वाद अर्पित कीजिए, और भीतर ही भीतर स्मरण कीजिए: *भगवान् यहाँ भी निवास करते हैं।* इसे आज के दिन की अपनी आराधना बनने दीजिए। दूसरों में भगवान् को देखने के लिए दृष्टि को प्रशिक्षित करते हुए, आप धीरे-धीरे हृदय की सबसे पुरानी ग्रन्थियों में से एक को खोल देते हैं — और एक साधारण भेंट को सच्ची भक्ति का कर्म बना देते हैं।

प्रमुख श्लोक

इस उपदेश के अनेक रत्नों में से एक श्लोक सम्पूर्ण का सार धारण करता है: ऋषभदेव का यह प्रकाशन कि श्रेष्ठ जन उन्हें “सर्वश्रेष्ठ” क्यों कहते हैं — क्योंकि उनका ही हृदय शुद्ध सत्त्व है, समस्त धर्म का निवास। वह श्लोक, जो ऊपर दिया गया है (स्कन्ध 5, अध्याय 5, श्लोक 19), इस अध्याय का शान्त केन्द्र है: भगवान् अमिश्रित सत्त्व के स्वरूप में अवतरित होते हैं ताकि, उनका अनुसरण करके, उनके बच्चे बन्धन की प्रत्येक ग्रन्थि को पार कर सकें।

उपसंहार

पंचम स्कन्ध का पाँचवाँ अध्याय भगवान् ऋषभदेव का अपने पुत्रों को दिया गया महान् उपदेश है। वे उन्हें बताते हैं कि मानव-देह पशुओं के समान भोग-विलास के लिए नहीं, बल्कि हृदय को निर्मल करने वाली उस तपस्या के लिए है जो अन्तःकरण को स्वच्छ बनाती है; वे दिखाते हैं कि आत्मा किस प्रकार कर्म और आसक्ति से बँधती है, और किस प्रकार, भक्ति, संयम, सन्तों की संगति और उनकी लीलाओं के श्रवण से, हृदय में स्थित अहंकार की ग्रन्थि काटी जा सकती है। वे घोषित करते हैं कि कोई गुरु, माता-पिता अथवा रक्षक इस नाम के योग्य नहीं जो अपने आश्रित को मृत्यु से परे न ले जा सके; वे प्रकट करते हैं कि शुद्ध सत्त्व ही उनका हृदय है, और इसीलिए श्रेष्ठ जन उन्हें ऋषभ, सर्वश्रेष्ठ, कहते हैं।

वे उस निष्काम भक्त का सम्मान करते हैं जो कुछ भी न रखते हुए भी कुछ नहीं चाहता, और अपने पुत्रों को आज्ञा देते हैं कि वे प्रत्येक प्राणी को उनका निवास-स्थान मानकर उनकी आराधना करें। तब, सदा की भाँति उदाहरण से शिक्षा देते हुए, वे भरत का राज्याभिषेक करते हैं, संसार का त्याग करते हैं, और मौन में पृथ्वी पर विचरण करते हैं, प्रत्येक कष्ट को सहते हुए, योग की सिद्धियों तक से अविचलित। उनका जीवन हमें एक ही देदीप्यमान सत्य देता है: कि हमारे अमूल्य मानव-जन्म का समस्त प्रयोजन हृदय को खोलना और पूर्णतया, सदा के लिए, भगवान् की ओर मुड़ जाना है।

श्रीमद्भागवतम् की दिव्य विद्या हमारे हृदयों में शुद्ध भक्ति को जागृत करे।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

जय श्री माधव।

संदर्भ एवं आभार

- मूल संस्करण: गीता प्रेस, श्रीमद्भागवत महापुराण (अंग्रेज़ी, सम्पूर्ण), पंचम स्कन्ध, पंचम अध्याय, पृष्ठ 454-459।
- श्रृंखला: श्रीमद्भागवतम् विज़डम • विश्व सनातन धर्म सेवा ट्रस्ट।
- पण्डित डॉ. श्री काशीनाथ मिश्र के आध्यात्मिक मार्गदर्शन एवं अनुशंसा के अनुसार प्रस्तुत।

यह लेखक के अपने शब्दों में एक मौलिक, श्रद्धापूर्ण पुनर्कथन है, जिसमें संक्षिप्त उद्धृत श्लोक देवनागरी एवं लिप्यन्तरण में दिए गए हैं और उनके अर्थ सारांश-रूप में। यह किसी एक प्रकाशक के सतत अनुवाद अथवा टीका का पुनरुत्पादन नहीं है। किसी प्रकाशक के संरक्षण अथवा समर्थन का कोई भाव अभिप्रेत नहीं है।

॥ हरि ॐ तत्सत् ॥

जय श्री माधव

ऑनलाइन पढ़ें: kalkiabatara.org/hi/blog-srimad-bhagavatam-canto-5-chapter-5-the-teachings-of-lord-rsabhadeva-to-his-sons-hi.html

श्रीमद्भागवतम् विज़डम • कल्कि अवतार इंटरनेशनल • बिस्व सनातन धर्म सेवा ट्रस्ट